RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18, अंक-1, दिसम्बर 2024 जनवरी फरवरी 2025

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रास्तो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-18 अंक - 1 दिसम्बर-2024, जनवरी-फरवरी-2025

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** - पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** - प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** - प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** - पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** - पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** - सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** - पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** - आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** - पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक
डॉ. रीता पारीक
प्राचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक
डॉ. मृत्युंजय शर्मा
सह-आचार्य
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक
डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन
मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय
सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :
पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :
मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :
श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

गुप्तकालीन चित्रकला और भारतीय ज्ञान परम्परा

उमेश कुमार
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

गुप्तकालीन चित्रकला भारतीय कला-विकास की वह धुरी है, जहाँ सौन्दर्य, तकनीक, भाव-अभिव्यक्ति और सांस्कृतिक चेतना सब एक साथ अपनी चरम अवस्था में दिखाई देते हैं। इस काल की चित्रशैली में जो स्वाभाविकता, सहज जीवन्तता, कोमलता, संतुलन और सौम्यता है, वह भारतीय चित्रकला को एक विशिष्ट पहचान प्रदान करती है। विशेष बात यह है कि गुप्तकालीन कलाकार केवल आकृतियाँ भर नहीं बनाते थे, बल्कि मानव-भावनाओं, मानवीय सम्बन्धों, आध्यात्मिकता, नारी की कोमलता, प्रकृति की लय, तथा दैनिक जीवन की सूक्ष्मतम लवणियों को रंगों के माध्यम से स्पष्ट और सजीव बना देते थे। यही कारण है कि इस युग के चित्र आज भी देखने वालों को सहज रूप से भाव-विभोर कर देते हैं।

अजन्ता, एलोरा और बाघ की गुफाएँ गुप्तकालीन चित्रकला के सर्वोत्तम केन्द्र रहे हैं। इन गुफाओं की दीवारों और छतों पर वज्रलेप किया गया था, जिससे चित्रों की सुरक्षा शताब्दियों तक सम्भव हो सकी। कलाकारों ने प्राकृतिक रंगों के साथ ऐसे रासायनिक पदार्थों का मिश्रण किया कि चित्रों में चमक, गहराई और स्थायित्व बना रहा। इन रंगों की परतें आज भी यह प्रमाणित करती हैं कि गुप्तकाल में रसायन-विज्ञान और चित्र-तकनीक का कितना उन्नत ज्ञान उपलब्ध था। यह केवल सौन्दर्य-सृजन नहीं था, बल्कि विज्ञान और कला का समन्वित प्रयोग भी था, जो भारतीय ज्ञान-परम्परा की विशिष्टता को दर्शाता है।

भारतीय चित्रकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन रही है। साहित्य में वर्णित कथाएँ—ब्रह्मा द्वारा मृत व्यक्ति का चित्र बनाकर उसमें प्राण डाल देना, चित्रलेखा का अद्भुत कौशल, तथा रामायण में भवनों की भित्तियों पर चित्रकारी यह दर्शाती हैं कि भारतीय समाज में चित्रकला केवल शौक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रतिष्ठा का विषय थी। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि भारतीय परम्परा में चित्रकला को अत्यधिक कल्पनाशील, संजीवनी-प्रद एवं भावनात्मक शक्ति सम्पन्न माना गया।

गुप्तकालीन साहित्य और पुरातात्त्विक प्रमाणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि इस युग में कला-संरक्षण एक संगठित और सुव्यवस्थित व्यवस्था थी। सम्भवत: सम्पन्न लोगों के घरों में छोटी-छोटी चित्रशालाएँ होती थीं, जहाँ कलाकार चित्र-अभ्यास करते और नवोदित कलाकारों को प्रशिक्षित करते थे। गुफाओं और विहारों में बने विशाल कला-केन्द्र केवल धार्मिक स्थल नहीं थे, बल्कि शिक्षा, साधना, साहित्य और कला का समन्वित केन्द्र थे। यही वह बिन्दु है जहाँ गुप्तकालीन संस्कृति भारतीय ज्ञान-परम्परा से गहराई से जुड़ती है—क्योंकि इस युग में कला केवल चित्रण नहीं, बल्कि जीवन-दर्शन का प्राकट्य थी।

गुप्तकालीन चित्रकला का सबसे बड़ा वैशिष्ट्य यह है कि यह भारतीय मानववादी दृष्टिकोण को अत्यन्त स्पष्टता से प्रस्तुत करती है। चित्रों में चाहे बुद्ध के जीवन प्रसंग हों, चाहे सामान्य मनुष्यों का जीवन,

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

चाहे नारी की लावण्यता, चाहे प्रकृति के दृश्य—हर जगह मानव-केन्द्रित संवेदना और शान्तिमय भावभूमि दिखाई देती है। रंग, रेखा, भाव और मुद्रा के माध्यम से कलाकार जीवन को उस रूप में प्रस्तुत करते थे जो मनुष्य को अधिक मानवीय और संवेदनशील बनाता था। यही भारतीय कला की मूल आत्मा है।

गुप्तकालीन चित्रकला के रूप, अंग और भेद :

गुप्तकालीन चित्रकला के रूप, अंग और भेद अपने समय की अत्यन्त विकसित कलासंवेदना का परिचायक हैं। इस युग में चित्रकला केवल सौन्दर्य-प्रदर्शन नहीं थी, बल्कि वैज्ञानिक, तकनीकी और भावनात्मक सभी स्तरों पर विशिष्ट परिपक्वता प्राप्त कर चुकी थी।

सबसे पहले यदि इसके रूपों को देखें, तो गुप्तकाल में दो प्रकार की चित्रशैलियाँ प्रचलित थीं। पहली थी प्रत्यक्ष चित्रकला—यह वह शैली थी जिसमें सामने विद्यमान वस्तु, व्यक्ति, दृश्य या प्रकृति को देखकर सीधे उसका चित्र बनाया जाता था। इसमें शिल्पकार सूक्ष्म अवलोकन पर बल देता था और आकार-प्रमाण, रंग-योजना एवं वस्तु की वास्तविक मुद्रा को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करता था। यह शैली वस्तुनिष्ठता और स्पष्टता की द्योतक थी। दूसरी शैली थी भावगम्य चित्रकला—जिसमें कलाकार प्रत्यक्ष वस्तु या दृश्य की अपेक्षा अपनी कल्पना, अंत:प्रेरणा तथा भावधारा के अनुसार चित्र को आकार देता था। यह चित्रकला अधिक सांकेतिक, कल्पनापूर्ण और भावप्रधान होती थी। इसमें आकृतियाँ केवल दृश्य नहीं होती थीं, बल्कि उनमें भावों की अनुभूति प्रमुख रूप से उभर कर आती थी। धार्मिक कथानक, दैवी-मानवीय भाव, प्रेम, करुणा, शान्ति या वीरत्व जैसे भाव इसी शैली में अधिक प्रखरता से व्यक्त किए जाते थे।

चित्रों के निर्माण में मुख्यत: दो तकनीकें अपनाई जाती थीं—फ्रेस्को और टेम्पेरा। फ्रेस्को पद्धति में ताज़े चूने के प्लास्टर पर रंग लगाए जाते थे, जिससे रंग सतह में गहरे उतर कर वर्षों तक स्थायी रहते थे। अजन्ता की प्रसिद्ध गुफाएँ इसी प्रकार के चित्रण की उत्कृष्ट मिसाल हैं। दूसरी ओर टेम्पेरा पद्धति में रंगों को किसी बाइंडर—जैसे गोंद, अंडे की जर्दी या प्राकृतिक चिपचिपे पदार्थों—के साथ मिलाकर उपयोग किया जाता था। इन दोनों तरीकों ने गुप्तकालीन चित्रकला को सजीवता, स्थायित्व और रेखांकन की स्पष्टता प्रदान की।

चित्रकला मुख्यत: भित्तियों पर बनाई जाती थी, जिसे म्यूरल पेन्टिंग कहा जाता है। गुफाओं और विहारों की विशाल दीवारें इस कला की सुन्दर आधारभूमि थीं। कुछ स्थानों पर दीवारों पर उकेरी हुई मूर्तियों या उभारों के ऊपर भी चित्र बनाए गए। इसे रिलीफ पेंटिंग कहते हैं। इससे चित्र और मूर्ति दोनों मिलकर एक संयुक्त कलात्मक प्रभाव उत्पन्न करते थे। वस्त्रों, लकड़ी या अन्य हल्के आधारों पर बनाए गए चित्रों को चित्रफलक कहा जाता था; ये अपेक्षाकृत आसानी से सुरक्षित रखे जा सकते थे और व्यक्तिगत कलासंग्रह के रूप में भी प्रयोग किए जाते थे।

गुप्तकालीन चित्रकला के सिद्धान्तिक आधार वात्स्यायन के 'कामसूत्र' में स्पष्ट दिखाई देते हैं, जहाँ चित्रकला के प्रमुख अंगों का उल्लेख मिलता है। इनमें 'रूप-भेद'—विभिन्न आकृतियों और रूपों की पहचान; 'प्रमाण'—आकार, अनुपात और माप का विज्ञान; 'भाव'—आकृतियों में अन्त:अनुभूति का संचार; 'लावण्य-योजना'—चित्र को आकर्षक, संतुलित और सौम्य बनाने की व्यवस्था; 'वर्णानुक्रम-भेद'—रंगों के प्रयोग, उनके मिश्रण और क्रम का ज्ञान; तथा 'सादृश्य'—चित्र में विषय का समान रूप से उद्भासन—जैसे सूक्ष्म सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इससे पता चलता है कि गुप्तकाल की चित्रकला केवल अभ्यासजन्य कला

न होकर वैज्ञानिक, शिल्प-संहिताओं से निर्देशित और दर्शनसम्मत परम्परा का हिस्सा थी।

संगीत कला, काव्य कला एवं मुद्रा कला :

गुप्तकालीन सांस्कृतिक विकास में संगीत, काव्य और मुद्राकला—ये तीनों कलाएँ अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यह वह काल था जब भारतीय कला-चेतना अपने सर्वाधिक परिष्कृत स्वरूप में प्रकट होती है। इस युग के विद्वान वात्स्यायन ने संगीत की तीन मूलभूत संहिताएँ—गीत, वाद्य और नृत्य—निर्धारित कीं, जो आगे चलकर समग्र भारतीय संगीत-परम्परा की आधारशिला बनीं। गुप्तकालीन समाज में इन तीनों अंगों का समान रूप से विकास हुआ। नृत्य का विशेष प्रचार-प्रसार हुआ, जिसके प्रमाण अजन्ता-बाघ के चित्रों, गुफा-मूर्तियों और साहित्यिक विवरणों में प्राप्त होते हैं। इस युग में वाद्यवृन्द भी अत्यन्त विकसित था—वीणा, वंशी, मृदंग, झांझ, भेरी और अनेक तंत्री एवं अवनद्ध वाद्य प्रचलन में थे। नाटक और अभिनय-कला का भी असाधारण उत्थान हुआ; शिल, लिखित मुद्रा-भाषा, भावाभिनय, नायक-नायिका भेद और रंगशाला-विन्यास जैसी परम्पराएँ इसी काल में सुदृढ़ हुईं।

काव्य-कला के क्षेत्र में गुप्तकाल स्वर्णयुग कहलाता है। संस्कृत साहित्य का सर्वांगीण विकास इसी काल में हुआ—कालिदास जैसी महाकवियों की रचनाएँ इस युग की काव्य-प्रतिभा का चरम उदाहरण हैं। इस समय काव्य की रचना केवल शब्द-लालित्य या छन्द-सौन्दर्य भर नहीं थी; उसमें मानवीय भाव, प्रकृति की सजीवता और दार्शनिक अनुभूति का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। संस्कृत भाषा के परिष्कृत व्याकरण और अलंकारशास्त्र ने काव्य को अत्यन्त उच्च कोटि की अभिव्यक्ति बना दिया।

धातुकला का भी इस समय अद्‌भुत विकास हुआ। लौह, ताम्र, कांस्य तथा सोने-चाँदी पर आधारित शिल्पकारी गुप्तकाल में पराकाष्ठा पर पहुँच चुकी थी। धातुकला के साथ मुद्राकला का उत्थान विशेष उल्लेखनीय है—नाणकीय मुद्राओं पर अंकित चित्रांकन, लेख और प्रतीक चिह्न कलात्मक दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। वास्तव में सुडौल, संतुलित और सुंदर सिक्कों की परम्परा गुप्तकाल में ही सुव्यवस्थित रूप लेती है, और इन मुद्राओं में कला तथा शासन—दोनों का आदर्श संगम दिखाई देता है।

'कला' शब्द की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न व्युत्पत्तियाँ प्रचलित हैं। परम्परागत व्याकरण के अनुसार कल् धातु और अन्-टाप् प्रत्यय के संयोग से कला शब्द बनता है, जिसका अर्थ है—किसी वस्तु का सूक्ष्म अंश, चन्द्रमण्डल की सोलहवीं कलाएँ, राशि का अंश आदि। यह व्युत्पत्ति संकेत करती है कि कला का मूल स्वभाव 'सूक्ष्म', 'नाजुक' और 'सौन्दर्य-प्रधान' है। डॉ. रामदत्त भारद्वाज ने कला शब्द की व्युत्पत्ति 'कवि' और 'लास्य' के प्रथमाक्षरों से मानी है, अर्थात् कवित्व और नृत्य-भाव—दोनों का संयुक्त रूप ही कला है। यह व्याख्या कला की अनुभूति और अभिव्यक्ति के द्विपक्षीय स्वरूप की ओर संकेत करती है—कविता में भावों का शब्द-सृजन और नृत्य में भावों का देह-सृजन।

पुरातन चिन्तक भर्तृहरि का कथन— 'साहित्यसंगीतकलाविहीनः साक्षात् पशुः '—गुप्तकालीन कला-चिन्तन का मूल भाव व्यक्त करता है। मनुष्य की पहचान उसके भावानुभवों, सौन्दर्यबोध और सृजनशीलता से है; इनसे रहित व्यक्ति केवल शरीर-प्रधान अस्तित्व रह जाता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कला को बाह्य वस्तुओं की नकल नहीं, बल्कि मानव की आन्तरिक अनुभूति की अभिव्यक्ति कहा है—जहाँ वास्तविक लक्ष्य सत्य और सौन्दर्य का सृजन है। रस्किन के अनुसार कला ईश्वर की सृष्टि के प्रति मानव के हृदय का श्रद्धा-सन्देश है, जबकि टॉल्स्टॉय की दृष्टि में कला वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य अपने हृदय की अनुभूतियों को रेखा, रंग, स्वर और गति के माध्यम से दूसरे के हृदय तक पहुँचा देता है।

भारतीय कला की विशेषताएँ :

भारतीय कला की विशेषताएँ अत्यन्त व्यापक, बहुआयामी और गहन दार्शनिक आधार पर टिकी हुई हैं। भारतीय कला वस्तुत: केवल सौन्दर्य-सृजन का साधन नहीं, बल्कि मानव के मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजिक विकास का माध्यम है। इसकी मूल प्रेरणा धर्म, दर्शन, प्रकृति-अनुभूति, लोकजीवन और मानवीय संवेदना के समन्वय से प्राप्त होती है। भारतीय कला का मुख्य उद्देश्य मनुष्य की भावनाओं को तृप्त करना, उसके दु:खों को सौन्दर्य के सहारे शांत करना और जीवन को एक उच्चतर मानसिक स्तर पर ले जाना है। पीड़ित मनुष्य चित्रों, मूर्तियों, संगीत या नृत्य के माध्यम से स्वयं का निर्वेशन पाता है, और इसी प्रक्रिया में कला का सृजन भी होता है। अत: कला मनुष्य के जीवन की आध्यात्मिक आवश्यकता है—वह समाज को एक सूत्र में बाँधने वाली प्रेरक शक्ति है।

भारतीय कलाकार के लिए सौन्दर्य ही ईश्वर है। यही कारण है कि भारतीय प्रतिमाएँ केवल सौन्दर्य का चित्रण नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभूति के प्रतीक हैं—वे भक्त के लिये उपासना-पथ का साधन बन जाती हैं। भारतीय कला में अद्‌भुत आदर्शवाद और प्रतीकवाद मिलता है। यहाँ की कला केवल मानव-केंद्रित नहीं, बल्कि संपूर्ण सृष्टि-केंद्रित है। मानव, पशु-पक्षी, वृक्ष, लता, पर्वत और जल—सब जीवन और ब्रह्माण्ड के अविभाज्य अंग हैं; इसलिए भारतीय कला में ये सब सजीव दिखाई देते हैं।

भारतीय कला सामाजिक जीवन से गहराई से जुड़ी रही है। डॉ. राधाकृष्णन ने सही लिखा है कि साहित्य और कला राष्ट्र की चेतना के श्रेष्ठतम प्रतीक हैं—वे समाज से शक्ति ग्रहण करती हैं और समाज को ऊँचा उठाती हैं। भारत का जन-जीवन सदैव धर्मप्रधान रहा है; इसलिए भारतीय कला में मंदिर, स्तूप, चैत्य, विहार, देवीं-देवताओं की प्रतिमाएँ और धार्मिक स्थापत्य सदैव प्रमुख रहे। भारतीय कला का मूल प्रयोजन मानवीय भावों को धर्मिक और दार्शनिक दृष्टि से रूपायित करना रहा है।

भारतीय कला की एक विशिष्ट विशेषता उसकी 'तरलता' है। कठोर पत्थर में भी ऐसी कोमलता और प्रवाह मिलता है कि मूर्ति मानो जीवित प्रतीत होती है। भारतीय कला परम्परागत भी है और नवोन्मेषी भी—यह अपनी धारा को बदले बिना नए गुण और सिद्धान्त सहज स्वीकार करती रही है। इसके अतिरिक्त, भारतीय कला की अनन्यता यह है कि इसमें कलाकार का नाम प्राय: अनुपस्थित रहता है। कलाकार का अहंकार विलीन हो जाता है—वह केवल कला का माध्यम बनकर रह जाता है।

भारतीय कला में अनेक प्रतीकों का विशेष महत्व है—हाथी शक्ति और राजकीय गरिमा का, बैल धर्म और स्थिरता का, वृषभ शिवतत्त्व का द्योतक है। भारतीय कला पर अस्वाभाविकता का आरोप भी किया जाता रहा, किन्तु यह अस्वाभाविकता ही उसका सौन्दर्य और सामर्थ्य है—रूपीभूत सत्य को आदर्शकृति बनाकर प्रस्तुत करना ही उसका लक्ष्य है।

प्रकृति भारतीय कला की आत्मा है। वृक्ष, लताएँ, पत्तियाँ, पुष्प, वनस्पतियाँ, पशु-पक्षी—ये सभी भारतीय कला के अविभाज्य अंग हैं। इनसे रहित कला भारत में अपूर्ण मानी जाती है। इस कारण हैवेल ने इसे आदर्शवादी, प्रतीकात्मक और रहस्यात्मक कला कहा है—जो बाह्य सौन्दर्य में नहीं, बल्कि गूढ़ आध्यात्मिक सत्य में अपना आधार खोजती है।

भारतीय कला का विशिष्ट रूप मौर्य काल से स्पष्ट रूप लेने लगता है। मौर्यकालीन कला में राजाश्रय की भव्य कला—अशोक के स्तम्भों और राजप्रासादों में—तथा लोककला की सहज, जीवंत शैली—यक्ष-यक्षिणी, मातृदेवी की मिट्टी-मूर्तियों में—दोनों का अद्भुत संगम मिलता है। मौर्य कला की भव्यता, तकनीकी

परिपक्वता और व्यापक प्रसार विश्व में अद्वितीय थी। इसी काल से शिल्प परंपरा पाषाण में निखरकर सामने आती है।

बौद्ध काल में धर्म ने कला को नई दिशा दी। स्तूप, विहार, चित्रकला, गंधार-मथुरा मूर्तिकला—सभी पर धर्म की गहन छाप है। धर्म को समझाने और लोकहित में प्रस्तुत करने के लिये कला को माध्यम बनाया गया, जिससे भारतीय कला शिक्षण, उपासना, प्रेरणा और सौन्दर्य—चारों का अद्भुत संगम बन गई।

सारत: कहा जा सकता है कि गुप्तयुग कला का स्वर्णकाल था, जिसमें चित्रकला, संगीत, नृत्य, अभिनय, काव्य, धातुकला और मुद्राकला सभी का उच्चतर विकास हुआ। चित्रकला में प्रत्यक्ष और भावगम्य दोनों रूप समृद्ध हुए तथा फ्रेस्को-टेम्पेरा तकनीक से उत्कृष्ट भित्तिचित्र बने। संगीत में गीत-वाद्य-नृत्य का संतुलित विकास हुआ, और नृत्य व अभिनय नाट्यकला के माध्यम से व्यापक हुए। काव्य, साहित्य और कलात्मक सिक्कों में भी अद्भुत सौंदर्य-बोध दिखाई देता है।

अन्तत: गुप्तकाल ने भारतीय कला को शास्त्रीय रूप, गहन सौंदर्य-दृष्टि और सृजनशील परिपक्वता प्रदान कर उसे सांस्कृतिक स्वर्णयुग में परिवर्तित कर दिया।

ꕥꕥꕥ

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. *भारतीय संस्कृति का विकास, डॉ. मंगलदेव शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1964*
2. *वाचस्पति गैरोला, भारतीय संस्कृति और कला उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1985*
3. *वाचस्पति गैरोला, भारतीय चित्रकला, इलाहाबाद, 1963*
4. *कला विकास, आर.ए. अग्रवाल, मेरठ, 1984*
5. *गुप्तकालीन बौद्ध चित्रकला, डॉ. सन्ध्या पाण्डे, परिमल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 2023*
6. *गुप्तकालीन कला : सम्पूर्ण परिचय, मनोहर पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली।*